जिंदगी का एक घिनोना रूप

संतोष बजाज

हमारे देश के बड़े शहरों में आसमान को छूने की कोशिश करती ऊंची-ऊंची इमारतें होती हैं। उन्हीं ऊंची इमारतों के साए में बसी घनी बस्तियां होती हैं जो 'झोंपड़पट्टी' या 'स्लम' के नाम से जानी जाती हैं।

दिल्ली शहर में भी लाखों लोग ऐसी झोंपड़ियों की बस्तियों में रहते हैं। पश्चिमी दिल्ली में शादीपुर डिपो के पास रेल की लाइन के साथ पांडव नगर की बस्ती में झोंपड़ियों की पूरी दुनिया बसी है। शायद बंबई के धारवार के बाद यह दूसरे नंबर पर बड़ी झोंपड़पट्टी है। इसमें न जाने कहां-कहां से आकर अनगिनत लोग बस गए हैं। यदि पुल के ऊपर खड़े होकर देखें तो इस बस्ती की झोंपड़ियों को गिनना भी मुश्किल है। दीवार से सटी दीवारों के आठ-नौ फुट के चौकोर टुकड़ों को टीन-टप्पर, बांस, गारा और टूटी-फूटी सीमेंट की चादर या प्लास्टिक की बड़ी शीट से ढकी छतों वाली झोपड़ियां अपने में पूरे आठ-आठ दस-दस जनों के परिवारों को समेटे हैं। चाहे दरियागंज हो या त्रिलोक पुरी, कालका जी या नारायणा, रघुवीर नगर, ख्याला हो, हरिनगर या पटेल नगर, कोई भी कालोनी ले लें। उसके तीन चार किलोमीटर के दायरे में एक न एक झोंपड़पट्टी मिल जाएगी, छोटी या बड़ी।

किसी एक बस्ती को देख लेने से मानों सारी झोंपड़ियों की हालत सामने आ जाती है। हर झुग्गी में कम से कम चार और ज्यादा से ज्यादा दस आदमी रहते हैं। कोई खिड़की या रोशनदान नहीं। बस, अंदर आने-जाने के लिए एक दर्वाज़ा होता है, जिस पर किवाड़ नहीं। उसी में खाना बनाया जाता है। दिन में बैठा जाता है। धूप, आंधी-पानी से बचने के लिए और उसी में जमीन पर रात को पूरा परिवार सो जाता है।

गांवों से भागकर आए परिवार शहरी झोपड़पट्टियों में रहते हैं। यहां न खुली धूप है, न हवा, चारों ओर घिनकी आबादी, गंदगी और सीलन। गांवों का खुला आकाश, दिन में सूरज, रात में चांद और तारे इन झोंपड़पट्टियों में रहने वालों को नसीब नहीं। लेकिन रोजगार, यही बड़ा सवाल है।

शराब, मार-पीट

इन झोंपड़ियों में रहने वाले भीख मांग कर भी पेट पालते हैं और मेहनत मजदूरी करने वाले भी हैं। औरतें आसपास की कालोनी के घरों में घरेलू काम करती हैं। पुरुष पुताई, रंगाई, मजदूरी या मूढ़े बनाने का काम करते हैं या पुराने कपड़ों की मरम्मत करा कर उन्हें बेचते हैं। जो पैसा मिलता है उसमें से थोड़ा घर चलाने के लिए दे देते हैं। ज्यादा की शराब पी जाते हैं। शराब पीकर गाली-गलौज, दंगा-फसाद करते हैं या अपनी औरतों को पीटते हैं। औरतें बकझक करती हैं कि खाने को है नहीं और तुम शराब पीकर पैसा फूंक आए हो। यह ताना सुनकर पति को अपने जन्मसिद्ध अधिकार (पत्नी को पीटने) की सहज याद आ जाती है और वह पीटने लगता है। इन्हीं तंग झोंपड़ियों में सोए बच्चे अपने मां-बाप के हर तरह के संबंधों को अपनी अधकचरी उमर में अपनी आंखों देखते हैं। छोटे बच्चे को बड़ा भाई या बहन संभालती है, या वे स्वयं रेंग-रेंग कर बड़े हो जाते हैं। मां-बाप परिवार में बच्चों की गिनती जोड़ते चले जाते हैं।

ये लोग अलग-अलग जातियों के हैं और दूर-दूर से आकर यहां बस गए हैं। एक, उत्तर प्रदेश के छोटे

शहरों से आने वाले लोग। दूसरे, दक्षिण भारत से आए लोग।

तीसरे, जो अहमदाबाद बड़ौदा की ओर से आए हैं। इनकी सबसे पहली बस्ती शंकर रोड पर थी। इनकी विशेषता यह है कि इनकी औरतों का पहनावा राजस्थानियों जैसा होता है। लहंगा, चुनरी और गले में हंसली, पैरों में कड़े। इनकी बस्तियां हैं करौलबाग के पास रैगड़पुरा में। इनकी भाषा गुजराती है और खान-पान राजस्थानी, सिंधी व गुजराती तीनों का मिश्रण है। इनके पुरुष पुराने कपड़ों की मरम्मत कर उन्हें बाजारों में हाट लगा कर बेचते हैं। औरतें ज्यादातर स्टील के बर्तनों के बदले में पुराने कपड़े लेती हैं। उन्हीं की सिलाई मरम्मत करके इनके भाई, बेटे या पति बाजार में बेचते हैं। इन्हें रिक्शा वाले या मजदूर या सफेदी व रंग रोगन करने वाले कारीगर सस्ते दामों में खरीद लेते हैं।

नर्क की जिंदगी

झोंपड़ियों के आसपास का वातावरण बेहद खराब रहता है। सफाई के नाम पर कुछ नहीं होता। पानी का कोई प्रबंध नहीं। सड़क के खंभों से मिलने वाली रोशनी के सहारे जीते हैं। चारों ओर दिन भर मक्खियां भिनभिनाती हैं। शाम होते ही मच्छरों का हमला हो जाता है। गंदे नालों के किनारे बसी झोंपड़पट्टियों का यह हाल है कि वहां रहने वाले पक्के मकानों के लोग भी बदबू से परेशान हैं। झोंपड़ियों में रहने वालों को तो रहना भी यहीं है, पकाना भी यहीं और खाना भी यहीं। उन्हें मच्छर-मक्खी, बदबू व अंधेरा सबकी आदत पड़ गई है।

बस्ती में शौच के लिए कोई उचित बंदोबस्त नहीं होता। लोग जंगलपानी के पुराने रिवाज पर जी रहे हैं जिससे गंदगी और बदबू दिन-दिन बढ़ रही है। हर तरह की बीमारी यहां है। इन बस्तियों में कुछ निवासियों को बरसों से तपेदिक है। लगभग हर तीसरे घर में एक रोगी मिल जाता है।

पूछताछ करने पर पता चला कि बच्चों को पोलियो या बी.सी.जी. के टीके लगवाने की जरूरत ही नहीं समझी जाती। यह पूछने पर कि टीके क्यों नहीं लगवाते, कुछ लोगों के पास तो जवाब ही नहीं है। यदि जवाब मिलता है तो ऐसा कि सुन कर दया आती है उनकी नासमझी पर। एक स्त्री ने बताया कि लड़कों को तो टीके लगवा दिए हैं, पर लड़कियों को नहीं। सरकारी स्कूल में लड़कों को तो पढ़ने भेज दिया जाता है, लड़कियों को कैसे भेज सकते हैं? उनका उत्तर उनकी दृष्टि से ठीक लगता है। उनका कहना है कि लड़कियां या तो हमारे साथ काम पर जाती हैं या घर में रह कर वे छोटे भाई-बहनों को संभालती हैं। रोटी बनाती हैं। हम जब थक कर

चंदा का शोषण

इस इलाके की कुछ लड़कियों से मैंने बात की। इनमें से एक है चंदा और दूसरी फूलो। चंदा से इस तरह बात हुई :

मैं—तुम्हारी कितनी उम्र है?
चंदा—चौदह साल।
मैं—स्कूल जाती हो?
चंदा—मौसी नहीं भेजती।
मैं—मौसी कौन? तुम्हारी मां कहां है?

चंदा—मेरी मां गांव में है। मैं मौसी के पास रहती हूं। मेरे पिता नहीं हैं। हम चार बहनें हैं। मौसी पहले बड़ी बहन को अपने साथ लाई थी। दो साल बाद उसे शादी के लिए गांव मां के पास भेज दिया और मेरी दूसरे नंबर की बहन को ले आई। अब उसे भी तीन साल रख कर मां के पास वापिस भेज दिया और मुझे ले आई। मौसी हम लोगों को वहां से ले आती है। हम यहां सात-आठ घरों में बर्तन झाड़ू का काम कर पैसे कमा कर मौसी को देती हैं। मौसी दो-तीन साल बाद गांव वापिस भेज देती है। बहुत थोड़े पैसे मां को देती है। बाकी अपने पास रखती है। मुझे मौसी के पास रहना जरा भी अच्छा नहीं लगता, लेकिन क्या करूं? घर का खर्च चलाने के लिए यह सहना पड़ता है।

फूलो के सपने

फूलो की बातें कुछ और ही ढंग की हैं। उससे बात कर लगा कि जीवन में उसके भी रंगीन सपने हैं। उससे बातचीत इस तरह हुई :

मैं—कितने साल की हो ?
फूलो—तेरह साल।
मैं—पढ़ती हो ?
फूलो—मां ने पढ़ाई छुड़वा दी।
मैं—क्यों ?
फूलो—मैं चौथी क्लास में दो बार फेल हो गई। मुझे पढ़ना अच्छा नहीं लगता।

मैं—तुम्हें क्या अच्छा लगता है ?
फूलो—(शर्मा कर हंसती हुई) टेलीविजन देखना।
मैं—टेलीविजन कहां देखती हो ?
फूलो—जिनके घरों में हम काम करती हैं वहां रोज देखने चली जाती हैं। कभी-कभी मुहल्ले में दो-दो रुपये चंदा कर सरकारी खंभे से तार खींचकर हम सब झुग्गी वाले किराये का वीडियो मंगा लेते हैं और उस रात को हम तीन फिल्में देखते हैं।

मैं—और क्या अच्छा लगता है ?

फूलो—मैं जब बड़ी होऊंगी तब मेरा पक्का कमरा होगा। उसमें बत्ती होगी, टी.वी. होगा, पंखा होगा, पानी का नल होगा। मैं ऐसे आदमी से शादी नहीं करूंगी जो शराब पीकर मुझे पीटे जैसे हमारी जात के सब लोग करते हैं।

मैं—तुम पढ़ना तो चाहती नहीं, फिर ऐसा लड़का, ऐसा घर तुम्हें कैसे मिलेगा ?

इस सवाल का उत्तर फूलो कैसे दे ? यह तो उसका सपना है और सपने की उड़ान की कोई सीमा नहीं होती।

'सुख वैभव' का घर मिलने के बाद भी फूलो कहती है कि वह काम करेगी। अपने कमाए पैसे हाथ में रहेंगे तो वह मनमर्जी खर्च कर सकेगी।

आती हैं तब घर का काम करने की ताकत नहीं रहती। इसी कारण हम लड़कियों को स्कूल नहीं भेजतीं। वैसे भी पढ़ लिखकर उन्होंने क्या तीर मार लेना है। वे भी हमारी तरह घर-घर काम करके अपना और अपने परिवार का पेट पालेंगी या घर पर रह कर बच्चों को संभालेंगी। लड़के और लड़की के प्रति मां का ही दृष्टिकोण कितना भेदभाव वाला है। कैसी अजीब बात है ?

अस्पताल का लाभ नहीं

सरकारी अस्पताल होते हुए भी इन झोंपड़ियों में रहने वाली औरतें बच्चा होने के समय किसी अस्पताल में नहीं जातीं। वे आस-पड़ोस की औरतों की मदद से ही बच्चे जन्मती हैं। आस-पास की गंदगी के कारण कई तरह की छूत बच्चों और जच्चा को लग जाती है जिससे बीमारियां जीवन भर के लिए घर कर लेती हैं। जहां पानी की कमी है, आसपास कचरे के ढेर हैं और नालियों की गंदगी है, वहां सफाई रख पाना कैसे संभव है ?

इन्हीं कारणों से नवजात शिशुओं की मृत्यु-दर अधिक है। यदि लड़की होती है और मर जाती है तो इन्हें विशेष दुख नहीं होता। कह देती हैं, "अच्छा हुआ, जान छूटी।" यदि लड़का होकर मर जाता है तो कुनबा कुछ देर के लिए दुखी हो उठता है, लेकिन दो जून की रोटी जुटाने में दिन-रात कमर तोड़ते परिवारों में ज्यादा दिन दुख मनाने का समय किसके पास है। यही है इन झोंपड़ियों में बसने वाले हजारों-लाखों लोगों की राम कहानी। □